



□ पुरातत्त्वाचार्य पद्मश्री मुनि श्री जिनविजय जी  
चन्देरिया, चित्तौड़गढ़

## पुरातत्त्व मीमांसा

□

‘पुरातत्त्व’ यह एक संस्कृत शब्द है। सामान्यतया अंग्रेजी में जिसको ‘एण्टीक्विटीज’ (Antiquities) कहते हैं उसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। पुरातत्त्व अर्थात् पुरातन, जूना, पुराणा और संशोधन अर्थात् शोध-खोज। जूनी-पुरानी वस्तुओं की शोध-खोज करना ही पुरातत्त्व संशोधन कहलाता है। भारत की पुरातन वस्तुओं की शोध-खोज किस प्रकार हुई और किन-किन संस्थाओं तथा किन-किन व्यक्तियों ने इस कार्य में विशेष भाग लिया—इसका कुछ दिग्दर्शन कराना मेरे इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

मनुष्य एक विशेष बुद्धिशाली प्राणी है। इसलिए प्रत्येक वस्तु को जानना अर्थात् जानने की इच्छा-जिज्ञासा होना उसका मुख्य स्वभाव है। आत्मा के अमरत्व में विश्वास करने वाले प्रत्येक आस्तिक मनुष्य के मत से प्रत्येक प्राणी में उसके पूर्व संचित संस्कारों के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में ज्ञान का विकास होता है। मनुष्य प्राणी सब प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है, इसका कारण यह है कि उसमें अन्य जीवजातियों की अपेक्षा ज्ञान का विकास सर्वाधिक मात्रा में होता है। ज्ञान के विकास अथवा प्रसार का मुख्य साधन वाणी अर्थात् भाषा है, और इस वाणी का व्यक्त स्वरूप सम्पूर्ण रीति से मनुष्य जाति में ही विकसित हुआ है। इसीलिए दूसरे देहधारी जीवात्माओं की अपेक्षा मनुष्यात्मा में ज्ञान का विशेष विकास होना स्वाभाविक है। मनुष्य जाति में भी व्यक्तिगत पूर्व संचित संस्कारानुसार ज्ञान के विकास में अपरिमित तारतम्य रहता है। संसार में ऐसे भी मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं कि जिनमें ज्ञान शक्ति का लगभग नितान्त अभाव होता है और जो मनुष्य रूप में प्रायः साक्षात् अबुद्ध पशु जैसे होते हैं। इसके विपरीत, ऐसे भी मनुष्य उत्पन्न होते हैं कि जिनमें ज्ञानशक्ति का अपरिमेय रूप से विकास होता है, और वे पूर्ण प्रबुद्ध कहलाते हैं। प्राचीन भारतवासियों में अधिकांश का तो यहाँ तक पूर्ण विश्वास था कि इस ज्ञान-शक्ति का किसी-किसी व्यक्ति में सम्पूर्ण विकास होता है अथवा हो सकता है जिससे उसको इस जगत के समस्त पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है, विश्व की दृश्य अथवा अदृश्य वस्तुओं में से कोई भी वस्तु उसको अज्ञात नहीं होती। ऐसे व्यक्ति को आर्य लोगों ने सर्वज्ञ नाम से कहा है। आर्यों के इस बहु-

संख्यक समाज की श्रद्धा के अनुसार ऐसे किसी सर्वज्ञ व्यक्ति का अस्तित्व हो सकता है या नहीं, यह एक बड़ा भारी विवादास्पद विषय है जो बहुत प्राचीनकाल से चला आ रहा है और सर्वज्ञ के अस्तित्व-अनस्तित्व पर आज तक असंख्य विद्वानों के अनन्त शङ्का-समाधान होते चले आये हैं। परन्तु मेरा कहना तो यह है कि विशुद्ध चक्षुओं से देखा जा सके ऐसे सर्वज्ञ का अस्तित्व प्रमाणित करने वाला कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो आज तक चिकित्सक संसार में किसी ने स्वीकार नहीं किया। अस्तु इस 'सर्वज्ञ' के विषय में कुछ भी हो इतनी बात तो अवश्य है कि किसी-किसी मनुष्य में ज्ञान शक्ति का इतनी अधिक मात्रा में विकास अथवा प्रकर्ष होता है कि दूसरों के लिए उसका माप करना अशक्य होता है। शब्दशास्त्र की व्युत्पत्ति के अनुसार ऐसे व्यक्ति को यदि 'सर्वज्ञ' नहीं कह सकते तो भी उसको बहुज्ञ अथवा अनल्पज्ञ तो अवश्य ही कहा जा सकता है। ऐसे एक बहुज्ञ व्यक्ति की ज्ञान शक्ति की तुलना में दूसरे साधारण लाखों अथवा करोड़ों मनुष्यों की एकत्रित ज्ञानशक्ति भी पूरी पड़ सके—ऐसी बात नहीं है।

**इतिहास—**अतीतकाल से संसार में ऐसे असंख्य अनल्पज्ञ व्यक्ति उत्पन्न होते आये हैं और जगत को अपनी अगाध ज्ञान शक्तियों की अमूल्य देन सौंपते रहे हैं। फिर भी, इस जगत के विषय में मनुष्य-जाति आज तक भी बहुत थोड़ा ही जान पाई है। यह अभी तक भी वैसा का वैसा अगम्य और अज्ञेय बना हुआ है। जगत की अन्य वस्तुओं को रहने दीजिए—मनुष्य जाति अपने ही विषय में अब तक कितना जान सकी है ? जिस प्रकार मानव संस्कृति के प्रथम निदर्शक और संसार में साहित्य के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद में ऋषियों ने मनुष्य जाति के इतिहास को लक्ष्य करके पूछा है कि—

**को ददर्श प्रथमं जायमानम् ?**

'सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाले को किसने देखा है ? उसी प्रकार आज बीसवीं शताब्दी के तत्त्व-ज्ञानी भी ऐसे ही प्रश्न पूछ रहे हैं।

जगत के प्रादुर्भाव के विषय में जिस प्रकार सत्युगीन नासदीय सूक्त का रचयिता महर्षि जानने की इच्छा करता था कि—

**को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्,**

**कुत आ जाताः कुत इयं विसृष्टि ।**

'इस जगत का पसारा कहाँ से आया है—और कहाँ से निकला है, यह कोई जानता है ? अथवा कोई बतलाता है ?' उसी प्रकार आज इस कलियुग के तत्त्वजिज्ञासु भी ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए तड़प रहे हैं। ऐसा यह जगत-तत्त्व अतिगूढ़ और अगम्य है। गुजराती भक्त कवि अखा के शब्दों में सचमुच यह एक अँधेरा कुआ है जिसका भेद आज तक कोई पा नहीं सका है। फिर भी, मानवी-जिज्ञासा और ज्ञानशक्ति ने इस 'अन्ध-कूप' की ग्रन्थि को सुलझाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया है। इस कुए के गहरे पानी पर छाई हुई घनी नीली शैवाल को जहाँ-तहाँ से हटाकर इसके जल कणों का आस्वाद करने के लिए बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ उटाई हैं। गूढ़तर और गूढ़तम ज्ञात होने वाले इस जगत् के कुछ रूपों को मनुष्य ने पहचाना है।

सृष्टि के स्वाभाविक नियमानुसार वर्षा ऋतु में आकाश पर उमड़ते-धुमड़ते हुए बादलों, उनके

**आचार्यप्रवचन अभिनन्दने श्रीआनन्दके अथः श्रीआनन्दके अथः**



गर्जन तथा बिजली की चमक व कड़कड़ाहट को देखकर जिस प्रकार हमारे वेदकालीन पूर्वज महाभयभीत हो जाते थे और प्रकृति के इस महान् उपयोगी कार्य को बड़ी भारी आपत्ति समझते थे उस प्रकार आज हम नहीं मानते; अपनी ही असावधानी के कारण प्रज्वलित हुई अग्नि में भस्म होती हुई अपनी पर्णकुटी को देखकर इस दृश्य को अपने पर कुपित हुए किसी देव अथवा राक्षस का अग्निरूप में आगमन मानते हुए दूर खड़े होकर जिस प्रकार हमारे पूर्वज प्रार्थना करने लगते थे वैसे हम नहीं करते। वायु के वेग से उड़ी हुई झौंपड़ी अथवा घास के ढेर को देखकर किसी अदृष्ट चोर के भय से आक्रान्त हमारे पुरखा जिस तरह उस चोर को दण्ड देने के लिए इन्द्र की स्तुति करने लगते थे वैसे भी हम आज नहीं करते हैं। हमारे पूर्वजों में और हममें इस फेरफार (अन्तर) का कारण क्या है? वेदकालीन आर्यों के बाद उनकी सन्तति द्वारा की गई प्रकृति के गूढ़ तत्त्वों की शोध-खोज ही इसका कारण है। विश्व के रहस्य को समझने के लिए जैसे-जैसे ही उत्तरकालीन मनुष्य विशेष बुद्धिपूर्वक विचार करते गये वैसे-वैसे ही सृष्टि के ये साधारण नियम उनकी समझ में आते गये। उन्हीं लोगों ने मेघ के स्वरूप को जाना, अग्नि के स्वभाव को समझा और वायु की प्रकृति को पहचाना और फिर इनसे निर्भय एवं निश्चिन्त होने के उपायों की योजना की। इससे भी आगे बढ़कर आधुनिक युग के मनुष्य प्राणियों ने प्रकृति की इन स्वच्छन्द शक्तियों के आन्तरिक मर्म को समझा, उनको वश में किया और उनसे कैसे-कैसे काम लेने लगे हैं यह हम लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं और अनुभव कर रहे हैं।

मनुष्य अपने इन्द्रियबल से केवल अपने संसर्ग में आने वाले समसामयिक और अनुभवगम्य विषयों का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। संसर्गातीत एवं अनुभवातीत विषयों का ज्ञान मनुष्य को उसकी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। फिर भी, हम जितने विश्वास के साथ आज के विषयों की चर्चा किया करते हैं उतने ही विश्वास के साथ हजारों लाखों वर्ष पूर्व की बातों की भी चर्चा करते हैं। शिवाजी, प्रताप, अकबर अथवा अशोक को हमारे युग के किसी मनुष्य ने प्रत्यक्ष नहीं देखा है, फिर भी हम इनके अस्तित्व के विषय में उतने ही विश्वस्त हैं जितने अपने में। जिस प्रकार आज हम अपने बीच में बिचरते हुए किसी महात्मा के आदर्श में पूर्ण श्रद्धा रखते हैं उसी प्रकार आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर अथवा बुद्ध के आदर्शों में भी उतनी ही श्रद्धा रखते हैं। जिस प्रकार भगवद्गीता के रहस्यकार लोकमान्य तिलक को प्रथम श्राद्ध तिथि हमने मनाई थी उसी प्रकार आज से पांच हजार वर्ष पूर्व जन्म लेने वाले और भगवद्गीता के मूल उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण की पुन्य जन्मतिथि आने पर भी हम उत्सव मनाते हैं। इन अनुभवातीत और समयातीत विषयों का ज्ञान कराने वाला कौन है? कौन-से साधनों द्वारा हमने इन भूतकाल की बातों को जान लिया है? कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमको इन बातों का ज्ञान कराने वाला इतिहासशास्त्र है।

ऐतिहासिक साहित्य द्वारा ही हम भूतकाल की बातों को जान सकते हैं? इतिहास जितना ही यथार्थ और विस्तृत होगा उतना ही हमारा भूतकालीन ज्ञान भी यथार्थ और विस्तृत होगा, यह स्वतः सिद्ध है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे पूर्वजों द्वारा रचित हमारे देश का यथार्थ और विस्तृत इतिहास उपलब्ध नहीं है। जगत की अन्य प्राचीन प्रजाओं को उनके देश में प्राचीन और विस्तृत इतिहास उपलब्ध नहीं है। जगत की अन्य प्राचीन प्रजाओं को उनके देश में जितना प्राचीन और विस्तृत इतिहास मिल

सका है उतना हमारे इस विश्ववृद्ध आर्यावर्त का इतिहास प्राप्त नहीं हो सका है। प्राचीन और विस्तृत इतिहास तो दूर रहा, हम लोगों में तो हम से तीन पीढ़ी पूर्व का इतिहास ही दुर्लभ्य है। वर्तमान शताब्दी से पहले की शताब्दी का ही पूर्ण वृत्तान्त हम नहीं जानते। और तो क्या, जिन राष्ट्रीय शकाद और सम्बत् का प्रयोग हमारे पूर्वज अनेकों शताब्दियों से करते आये हैं और जिन पर हमारी सम्पूर्ण मध्य-कालीन कालगणना अवलम्बित है, उनके प्रवर्तक कौन थे यह भी आज तक अज्ञात एवं अनिश्चित है। ऐसी स्थिति में पुरातत्व संशोधन ही हमारे इतिहास निर्माण का मुख्य स्तम्भ है। हमारा इतिहास जूनी पुरानी वस्तुओं की शोध खोज के परिणाम के आधार पर रचा गया है और रचा जायगा। यों तो संसार के किसी भी प्राचीन प्रदेश की पुरातन परिस्थितियों को जानने के लिए, जब इतिहास रूपी दूरदर्शक यन्त्र उनके दर्शन में सफल नहीं होता है तो, वहाँ की जूनी पुरानी वस्तुएँ ही आधारभूत होती हैं; परन्तु भारत-वर्ष में तो हमारे जन्मदिवस से लेकर ठेठ युग के आरम्भ तक की परिस्थितियों को जानने के लिए जूनी-पुरानी वस्तुओं पर अवलम्बित रहना पड़ता है। कारण कि शास्त्रीय पद्धति से जिसको हम इतिहास कहते हैं वैया तो कोई छोटा-मोटा भी इतिहास भारतवासियों ने लिखा नहीं, अथवा वह कहीं उपलब्ध नहीं होता। इतिहास-निर्माण में काम आने वाली जूनी पुरानी वस्तुओं में प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के तथा धातु पात्र, मन्दिर, मस्जिदें, जलाशय, कीर्ति स्तम्भ, तथा अन्य इमारतें व खण्डहर आदि गिने जाते हैं। हमारे पूर्वजों ने इतिहास के स्वतन्त्र ग्रन्थों का तो निर्माण नहीं किया परन्तु इतिहास के साधन तो बहुत से निर्मित किये हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु, हम तो इतना भी नहीं जानते, न जानने की आवश्यकता ही समझते कि इन साधनों की किस प्रकार छानबीन करके इतिहास का निर्माण करें। यह पाठ हमको पाश्चात्यों ने सिखाया है। पाठ ही सिखाया हो—इतना ही नहीं, वरन् अनेक प्रकार के कष्टों को झेलकर और परिश्रम करके उन्होंने हमारे लिए इतिहास के अनेक अध्याय भी तैयार किये हैं। यह आनुषङ्गिक बात लिखकर अब मैं अपने निबन्ध के मुख्य प्रतिपाद्य विषय पर आता हूँ।

आरम्भ में कहा जा चुका है कि मनुष्य विशिष्ट बुद्धिशाली ज्ञानवान प्राणी है इसलिए उसमें प्रत्येक वस्तु को विशेष रूप से जानने की जिज्ञासा का रहना स्वाभाविक ही है। इनमें से जो मनुष्य अन्य साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान होते हैं, उनमें यह जिज्ञासा अधिक उत्कट मात्रा में होती है। ऐसे मनुष्यों का जब कभी नवीन समागम किसी अपरिचित प्रदेश अथवा मानव समाज से होता है तो उनमें वहाँ के धर्म, समाज, इतिहास आदि के विषय में जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। इसी ज्ञानपिपासा से प्रेरित होकर वे मनुष्य उन बातों की शोध-खोज में पड़ते हैं। वे उस अपरिचित प्रदेश की भाषा सीखते हैं, उसके ज्ञान भण्डार को खोजने का प्रयत्न करते हैं और फिर उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान का अपने देश बन्धुओं को लाभ प्राप्त कराने के लिए उस ज्ञान भण्डार को अपनी भाषा में अवतरित करने का उपक्रम करते हैं। भारतवर्ष में पैसा कमाकर पेट पूजा के निमित्त आये हुए अंग्रेज इसी प्रकार हमारे देश की शोध-खोज करने में प्रवृत्त हुए।

ईसवीय सन् १७५७ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्लासी की प्रसिद्ध लड़ाई के बाद, धीरे-धीरे बंगाल पर अधिकार प्राप्त करना आरम्भ कर दिया था। १७६५ ई० में अंग्रेजों ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी हस्तगत कर ली; १७७२ ई० में बंगाल के नवाब से बहुत से अधिकार प्राप्त कर

आचार्य प्रवचन अभिरुद्ध आचार्य प्रवचन अभिरुद्ध  
श्रीआनन्दरत्न अन्धशुभ श्रीआनन्दरत्न अन्धशुभ



लिए और फिर तुरन्त १७७४ ई० में नवाब को सम्पूर्णतः पदच्युत करके अपना गवर्नर जनरल नियुक्त कर दिया। अँग्रेजों के लिए अब यह स्वाभाविक ही था कि वे इस देश के धर्म, समाज आदि का ज्ञान प्राप्त करें। जिस देश के साथ व्यापार करके उन्होंने करोड़ों ही नहीं अरबों रुपये कमाये, और हजारों ही नहीं लाखों वर्ग मील भूमि पर अधिकार प्राप्त किया उसी देश की अमूल्य ज्ञान सम्पत्ति प्राप्त करने के प्रशस्त लोभ ने भी कितने ही विद्वान अँग्रेजों को घेर लिया। कम्पनी की ओर से जो विद्या प्रेमी अँग्रेज भारत का शासन कार्य चलाने के लिए नियुक्त किये जाते थे प्रायः वे ही इस कार्य में अग्रसर बनते थे। बाद में तो फ्रांस और जर्मनी के विद्वानों ने भी भारतीय पुरातत्त्व में बहुत से महत्वपूर्ण कार्य किये और भारतीय साहित्य की बड़ी-बड़ी सेवाएँ कीं परन्तु इस कार्य में पहल करने का श्रेय तो अँग्रेजों को ही है। सबसे पहले सर विलियम जेम्स ने इस मंगलमय कार्य का आरम्भ किया था। आर्य साहित्य के संशोधन कार्य के साथ सर जेम्स का नाम सदैव जुड़ा रहेगा। सर जेम्स को भारतीय लोग म्लेच्छ मानते थे इसलिए संस्कृत भाषा सीखने में उनको बहुत सी अड़चनें आईं। ब्राह्मणों की कट्टरता के कारण उनको अपना संस्कृत अध्ययन चालू रखने में जो जो कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी उनका मनोरंजक वर्णन उन्होंने अपने जीवन वृत्तान्त में लिखा है। अन्त में, वे इन कठिनाइयों को पार कर गये और अपेक्षित संस्कृत ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने तुरन्त ही शाकुन्तल और मनुस्मृति का अँग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। इस अनुवाद को देखकर यूरोपीय विद्वानों में भारतीय सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जो प्रजा ऐसे उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण कर सकती है उसका अतीत काल कितना भव्य रहा होगा, यह जानने की आकांक्षा उनमें जाग उठी। सन् १७७४ के जनवरी मास की पन्द्रहवीं तारीख को तत्कालीन गवर्नर जनरल वॉरन हेस्टिङ्गज की सहायता से एशिया खण्ड (महाद्वीप) के इतिहास, साहित्य, स्थापत्य, धर्म, समाज, विज्ञान आदि विशिष्ट विषयों की शोध-खोज करने के लिए सर विलियम जेम्स ने एशियाटिक सोसाइटी नामक संस्था की शुभ स्थापना की। इस संस्था के साथ ही भारत के इतिहास के अन्वेषण का युग आरम्भ हुआ, यह हमको उपकृत होते हुए स्पष्टतया स्वीकार करना चाहिए। इससे पहले हमारा इतिहास विषयक ज्ञान कितना अल्प और सामान्य था, यह एक भोज प्रबन्ध जैसे लोकप्रिय निबन्ध को पढ़ने से ही ज्ञात हो जाता है। इस प्रबन्ध में भोज से अनेक शताब्दियों पूर्व भिन्न-भिन्न समयों में होने वाले, कालिदास, बाण, माघ आदि कवियों का भोज के दरबारी कवियों की रीति से वर्णन करते हुए उन्हें एक ही साथ ला बैठाया गया है। सिन्धुराज वाक्पतिराज की मृत्यु के पश्चात् राज्य का स्वामी बना था; इसके बदले इस प्रबन्धकार ने वाक्पतिराज को सिन्धु राज की गद्दी पर बैठाकर पिता को पुत्र बना डाला है। जब भोज जैसे प्रसिद्ध राजा के इतिहास लेखक को ही उसके वंश एवं समय के विषय में ऐसी अज्ञानता थी तो फिर सर्व साधारण की बेजानकारी के लिए तो कहा ही क्या जा सकता है? अशोक जैसे प्रतापी सम्राट की तो लोगों को सामान्य कल्पना भी नहीं थी। यद्यपि हिन्दुस्तान की इतिहास सम्बन्धी बहुत सी पुस्तकें व अन्य साधन मुसलमानों के समय में नष्ट हो गये थे परन्तु फिर भी बौद्धकालीन अनेक स्तूप, स्तम्भ, मन्दिर, गुफाएँ, जलाशय आदि स्थान, धातु और पाषाण निर्मित देवी देवताओं की मूर्तियाँ और दरवाजों, शिलाओं व ताम्रपत्रों इत्यादि पर उत्कीर्ण असंख्य लेख तो जो इतिहास के सच्चे और मुख्य साधन समझे जाते हैं,

अभी तक तो बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान थे। इन्हीं के आधार पर यदि इतिहास के तथ्य खोज कर निकालने के प्रयत्न किये जाते तो आज की तरह उसी समय हमारे इतिहास के बहुत से अध्यायों की रचना हो गई होती परन्तु, इस ओर किसी की दृष्टि ही नहीं गई और फिर बाद में देश में ज्यों-ज्यों अज्ञानता और अराजकता फैलती गई त्यों-त्यों ही लोग प्राचीन लिपि एवं तत्सम्बन्धी स्मृतियों को भूलते गये और इस प्रकार पर्याप्त साधनों के होते हुए भी उनका कोई सम्यक् उपयोग नहीं हो पाया।

सन् १३५६ ई० में दिल्ली का मुल्तान फीरोजशाह तुगलक टोवरा और मेरठ से अशोक के लेखों वाले दो बड़े स्तम्भों को बड़े उत्साह और परिश्रम के साथ दिल्ली लाया था (जिनमें एक फीरोजशाह के कटेरे में और दूसरा 'कुश्क शिकार' के पास खड़े किये गये हैं)। इन स्तम्भों पर खुदे हुए लेखों में क्या लिखा है यह जानने के लिए उस बादशाह ने बहुत परिश्रम किया और बहुत से पण्डितों को बुलवा कर उनको पढ़वाने का प्रयत्न किया परन्तु उनमें से कोई भी उन लेखों को पढ़ने में सफल नहीं हुआ। इससे अन्त में बादशाह को बहुत निराशा हुई। अकबर बादशाह को भी इन लेखों का मर्म जानने की प्रबल जिज्ञासा थी परन्तु कोई मनुष्य उसको पूर्ण न कर सका। प्राचीन लिपियों की पहचान को भूल जाने के कारण, जब कभी कोई पुराना लेख अथवा ताम्रपत्र मिलता तो, लोग उसके विषय में विविध प्रकार की कल्पनाएँ करते। कोई उनको सिद्धिदायक यन्त्र बतलाता, कोई देवताओं का लिखा हुआ मन्त्र मानता तो कोई उन्हें पृथ्वी में गड़े हुए धन का बोजक समझता। ऐसी अज्ञानता के कारण लोग इन शिलालेखों और ताम्रपत्रों आदि का कोई मूल्य ही नहीं जानते थे। टूटे-फूटे जीर्ण मन्दिरों आदि के शिलालेखों को तोड़-फोड़ कर साधारण पत्थर के टुकड़ों की तरह उपयोग किया जाता था; कोई उनको सीढ़ियों में चुनवा लेता था तो कोई उन्हें भाँग घोटने व चटनी बाँटने के काम में लेता था। अनेक प्राचीन ताम्रपत्र साधारण तबिके के भाव कसेरों के बेच दिये जाते थे और वे उन्हें गला जलाकर नये बर्तन तैयार करा लेते थे। लोगों की नासमझी अभी भी चालू है। मैंने अपने भ्रमण के समय कितने ही शिलालेखों की ऐसी ही दुर्दशा देखी है। कितने ही जैन मन्दिरों के शिलालेखों पर से चिपकाया हुआ चूना मैंने अपने हाथों से उखाड़ा है। कुछ वर्ष पहले की बात है, खम्भात के पास किसी गाँव का रहने वाला एक ब्राह्मण तीन चार ताम्रपत्र लेकर मेरे पास आया। उसकी जमीन के बारे में सरकार में कोई केस चल रहा था इसलिए घर में पड़े हुए ताम्रपत्रों में उस जमीन के सम्बन्ध में कुछ लिखा होगा यह समझ कर उन्हें मेरे पास पढ़वाने को लाया था। उनमें से एक पत्र के बीचों-बीच दो इंच व्यास वाला एक गोल टुकड़ा कटा हुआ था जिससे उस लेख का बहुत सा महत्वपूर्ण भाग जाता रहा था। इस सम्बन्ध में पूछने पर उसने मुझे बताया कि कुछ महिनो पहले एक लोटे का पैदा बनवाने के लिए वह टुकड़ा काट लिया गया था। ऐसी अनेक घटनाएँ आज भी देखने को आती हैं। ऐसी ही दुर्दशा हमारे प्राचीन ग्रन्थों की हुई है। कितने ही युगों से बिना सार-सम्हाल के कोटड़ियों में पड़े हुए हजारों हस्तलेखों को चूहों ने उदरसात कर लिया है तो कितने ही ग्रन्थ छप्परों में से पड़ते हुए पानी के कारण गलकर मिट्टी में मिल गये हैं। अनेक गुरुओं के अयोग्य चेलों के हाथों भी हमारे साहित्य की कम दुर्दशा नहीं हुई है।

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन  
श्रीआनन्दकरी अन्धकार श्रीआनन्दकरी अन्धकार



एक उदाहरण देता हूँ। इन्दौर में गोरजी नामक एक विद्वान था। उसने शिष्य बनाने के लिए दो लड़कों को पाला-पोसा था। इस गोरजी की मृत्यु के पश्चात् वे छोकरे उसके विशाल पुस्तक भण्डार में से नित्य हजार, दो हजार पत्र ले जाकर हलवाई को दे आते और उनके बदले पाव आध सेर गरमा-गरम जलेबी का नाश्ता कर आते और मजे उड़ाते। जब मुझे इस बात की खबर हुई तो उस हलवाई के पास जाकर बहुत से पत्ते तलाश किए, जिनमें पाँच सौ वर्ष पुराने लिखे हुए दो तीन जैन सूत्र तो मुझे अखण्ड रूप से मिल गए। पाटण के जैन भण्डारों में सिद्धराज कुमारपाल और उनसे भी पहले के लिखे हुए ताड़पत्रीय ग्रन्थों को तम्बाकू के पत्ते की तरह चूर्ण हुई अवस्था में मैंने अपनी इन चर्मचक्षुओं से देखा है। इस प्रकार हम ही लोगों ने अपनी अज्ञानता के कारण हमारे इतिहास के बहुत से साधनों को भ्रष्ट कर डाला है। इतना ही नहीं, पारस्परिक मतान्धता और साम्प्रदायिक असहिष्णुता के विकार के वश होकर भी हमने अपने साहित्य को कई तरह से खंडित और दूषित किया है। शैवों ने वैष्णवों के साहित्य का निकन्दन किया है, वैष्णवों ने जैनों के स्थापत्य को दूषित किया है, दिगम्बरों ने श्वेताम्बरों के लेखों को खंडित किया है तथा 'लोकों' ने 'तपाओं' की नोंध को बिगाड़ डाला है। इस प्रकार एक दूसरे ने एक दूसरे को बहुत नष्ट किया है। शोध-खोज के वृत्तान्तों में ऐसे अनेक उदाहरण देखने में आते हैं। अन्त में, मुसलमान भाइयों ने हिन्दुओं के स्वर्गीय भवनों को तोड़-फोड़कर मैदान कर दिया है और उनके पवित्र धामों के लेखों को जमींदोज कर दिया है। ऐसी संकटापन्न परम्पराओं में भी जो बच रहे उनको सुरक्षित रखने के लिए, जो अर्द्धमृत अवस्था में थे, उनसे कुछ जान लेने के लिए और विस्मृति और अज्ञानता की सतह के नीचे सजड दबे हुए भारत के अतीत काल का उन्हीं के द्वारा उद्धार करने के लिए उपरिर्वाणत एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई थी। इस सोसाइटी की स्थापना के दिन से ही हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक अज्ञानान्धकार का धीरे-धीरे लोप होने लगा। इस संस्था के उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अनेक अंग्रेज विभिन्न विषयों का अध्ययन करने लगे और उन पर लेख लिखने लगे। इन लेखों को प्रकट करने के लिए 'एशियाटिक रिसर्चेंज' नामक ग्रन्थमाला प्रकाशित की गई। सन् १७८८ में इस माला का प्रथम भाग प्रकाश में आया। सन् १७९७ ई० तक इसके पाँच भाग प्रकाशित हुए। सन् १७९८ ई० में इसका एक नवीन संस्करण चोरी से इंग्लैण्ड में छपाया गया। उससे इन भागों की इतनी माँग बढ़ी कि ५-६ वर्षों में ही उनकी दो-दो आवृत्तियाँ प्रकाशित हो गईं और एम०ए० लॅब्रॉम नामक एक फ्रेंच विद्वान ने 'रिसर्चेंज एशियाटिक्स' नाम से उनका फ्रेञ्च अनुवाद भी प्रकट कर दिया। सोसाइटी की इस ग्रन्थमाला में दूसरे विद्वानों के साथ-साथ सर विलियम जेम्स ने हिन्दुस्तान के इतिहास सम्बन्धी अनेक उपयोगी लेख लिखे हैं। सबसे पहले उन्हीं ने अपने लेख में यह बात प्रकट की थी कि मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित सांड्रोकोटस् और चन्द्रगुप्त मौर्य ये दोनों एक ही व्यक्ति थे, पाटलीपुत्र का अपभ्रष्ट रूप पालीत्रोथा है और उसी का आधुनिक नाम पटना है। कारण कि, पटना के पास में बहने वाला सोननद हिरण्यबाहु कहलाता है और मेगस्थनीज का 'एरोनोवाओं' ही हिरण्यबाहु का अपभ्रष्ट रूप है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का समय सबसे पहले जेम्स साहब ही ने निश्चय किया था।

सबसे पहले संस्कृत भाषा सीखने वाले अंग्रेज का नाम चार्ल्स विल्किंस था। उसी ने सर्व प्रथम देवनागरी और बंगाली टाइप बनाए थे। बदाल के पास वाला लेख सबसे प्रथम इसी ने खोदकर

निकला था। इसके अतिरिक्त, एशियाटिक रिसर्चेंज के प्रथम भागों में दूसरे कितने ही ताम्रपत्रों और शिलालेखों पर इनकी टिप्पणियां प्रकाशित हुई थीं। भगवद्गीता का भी सर्वप्रथम अंग्रेजी अनुवाद इसी अंग्रेज ने किया था।

सन् १७९४ ई० में सर जेम्स की मृत्यु हुई। उनके पश्चात् हैनरी कोलब्रुक की उनके स्थान पर नियुक्ति हुई। कोलब्रुक अनेक विषयों में प्रवीण थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य का खूब परिशीलन किया था। मृत्यु के समय सर जेम्स सुप्रसिद्ध पण्डित जगन्नाथ द्वारा सम्पादित “हिन्दू और मुसलमान कायदों का सार” नामक संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद कर रहे थे। इस अधूरे अनुवाद को पूर्ण करने का कार्य कोलब्रुक साहब को सौंपा गया। कितने ही पण्डितों की सहायता से सन् १७९७ ई० में यह कार्य पूरा किया। इसके पश्चात् उन्होंने ‘हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रिवाज,’ ‘भारतीय माप का परिमाण,’ ‘भारतीय वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति,’ ‘भारतवासियों की जातियाँ’ आदि विषयों पर गम्भीर निबन्ध लिखे। तदनन्तर १८०१ ई० में “संस्कृत और प्राकृत भाषा”, “संस्कृत और प्राकृत छन्दः शास्त्र” आदि लेख लिखे। फिर उसी वर्ष में दिल्ली के लोहस्तम्भ पर उत्कीर्ण विशालदेव की संस्कृत प्रशस्ति का भाषान्तर भी इसी अंग्रेज विद्वान ने प्रकाशित किया। सन् १८०७ में वे एशियाटिक सोसाइटी के सभापति बने और उसी वर्ष उन्होंने हिन्द ज्योतिष, अर्थात् खगोल विद्या पर एक ग्रन्थ लिखा तथा जैन धर्म पर एक विस्तृत निबन्ध प्रकट किया। कोलब्रुक ने वेद, सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध आदि भारतीय विशिष्ट दर्शनों पर तो बड़े-बड़े निबन्ध लिखे ही थे, साथ ही कृषि, वाणिज्य, समाज-व्यवस्था, साधारण साहित्य, कानून, धर्म, गणित, ज्योतिष, व्याकरण आदि अनेक विषयों पर भी खूब विस्तृत निबन्ध लिखे थे। उनके ये लेख, निबन्ध, प्रबन्धादि आज भी उसी सम्मान के साथ पढ़े जाते हैं। बेबर, बूहलर और मैक्समूलर आदि विद्वानों द्वारा निश्चित किए हुए कितने ही सिद्धान्त भ्रमपूर्ण सिद्ध हो गए हैं। परन्तु कोलब्रुक द्वारा प्रकट किए हुए विचार बहुत ही कम गलत पाए गए हैं। यह एक सौभाग्य ही की बात थी कि आरम्भ ही में हमारे साहित्य को एक ऐसा उपासक मिल गया जिसने हमारे तत्त्व ज्ञान और प्राचीन साहित्य को निष्पक्षपात पूर्वक मूल स्वरूप में यूरोप निवासियों के सम्मुख उपस्थित किया और जिसने संसार का ध्यान हमारी प्राचीन संस्कृति की ओर सहानुभूति पूर्वक आकर्षित किया। यदि उन्होंने ऐसा अपूर्व परिश्रम न किया होता तो आज यूरोप में संस्कृत का इतना प्रचार न हो पाता। कोलब्रुक जब भारत छोड़कर इंग्लैण्ड गए तो वहाँ भी उन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की, अनेक विद्वानों को संस्कृत का अध्ययन करने के लिए उत्साहित किया और आँखों से अन्धे होते हुए भी अनेक उपायों द्वारा संस्कृतसाहित्य की सतत सेवा करते रहे।

जहाँ एक ओर कोलब्रुक साहब संस्कृत साहित्य के अध्ययन में मग्न हो रहे थे वहाँ दूसरी ओर कितने ही उनके जाति बन्धु हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के पुरातत्त्व की गवेषणा में व्यस्त थे। सन् १८०० ई० में मार्क्विस् वेल्जली साहब ने मंसूर प्रान्त के कृषि आदि विभागों की तपास करने के लिए डॉक्टर बुकनन की नियुक्ति की। उन्होंने अपने कृषि विषयक कार्य के साथ-साथ उस प्रान्त की जूनी-पुरानी वस्तुओं का भी बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनके कार्य से सन्तुष्ट होकर कम्पनी ने १८०७

आचार्य प्रवचन अभिनेन्द्र आचार्य प्रवचन अभिनेन्द्र  
श्री आनन्द रे श्री आनन्द रे श्री आनन्द रे श्री आनन्द रे





ई० में उनको बंगाल प्रान्त में एक विशिष्ट पद पर नियुक्त किया। सात वर्षों तक उन्होंने बिहार, शाहाबाद, भागलपुर, गौरखपुर, दिनाजपुर, पुरनिया, रङ्गापुर, और आसाम में काम किया। यद्यपि उनको प्राचीन स्थानों आदि की शोध-खोज का कार्य नहीं सौंपा गया था फिर भी उन्होंने इतिहास और पुरातत्त्व की खूब गवेषणा की। उनकी इस गवेषणा से बहुत लाभ हुआ। अनेक ऐतिहासिक विषयों की जानकारी प्राप्त हुई। पूर्वोक्त भारत की प्राचीन वस्तुओं की शोध-खोज सर्वप्रथम इन्हीं ने की थी।

पश्चिम भारत की प्रसिद्ध केनेरी (कनाडी) गुफाओं का वर्णन सबसे पहले साल्ट साहब ने और हाथी गुफाओं का वर्णन रस्किन साहब ने लिखा। ये दोनों बॉम्बे ट्रांजेक्शन नामक पुस्तक के पहले भाग में प्रकाशित हुए। इसी पुस्तक के तीसरे भाग में साइकस साहब ने बीजापुर (दक्षिण) का वर्णन लोगों के सामने रखा।

अन्त में, डेनिअल साहब ने दक्षिण हिन्दुस्तान का हाल मालूम करना आरम्भ किया। उन्हीं दिनों कर्नल मैकेञ्जी ने भी दक्षिण में पुरातत्त्व विद्या का अभ्यास शुरू किया। वे सर्वे विभाग में नौकर थे। उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों का संग्रह किया था। वे केवल संग्रहकर्ता ही थे, उन ग्रन्थों और लेखों को पढ़ नहीं सकते थे परन्तु उनके बाद वाले शोधकों ने इस संग्रह से बहुत लाभ उठाया। दक्षिण के कितने ही लेखों का भाषान्तर डॉ० मिले ने किया था। इसी प्रकार राजपूताना और मध्य-भारत के अधिकांश भागों का ज्ञान कर्नल टॉड ने प्राप्त किया और इन प्रदेशों की बहुत सी जूनी-पुरानी वस्तुओं की शोध-खोज उन्होंने की।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों विषयक ज्ञान प्राप्त हुआ और बहुत सी वस्तुएँ जानकारी में आईं, परन्तु प्राचीन लिपियों का स्पष्ट ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया था अतः भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान पर अभी भी अन्धकार का आवरण ज्यों का त्यों पड़ा हुआ था। बहुत से विद्वानों ने अनेक पुरातन सिक्कों और शिलालेखों का संग्रह तो अवश्य कर लिया था परन्तु प्राचीन लिपि-ज्ञान के अभाव में वे उस समय तक उसका कोई उपयोग न कर सके थे।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के प्रथम अध्याय का वास्तविक रूप में आरम्भ १८३७ ई० में होता है। इस वर्ष में एक नवीन नक्षत्र का उदय हुआ जिससे भारतीय पुरातत्त्व विद्या पर पड़ा हुआ पर्दा दूर हुआ। एशियाटिक सोसाइटी के स्थापना के दिन से १८३४ ई० तक पुरातत्त्व सम्बन्धी वास्तविक काम बहुत थोड़ा हो पाया था, उस समय तक केवल कुछ प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद ही होता रहा था। भारतीय इतिहास के एकमात्र सच्चे साधन रूप शिलालेखों सम्बन्धी कार्य तो उस समय तक नहीं के बराबर ही हुआ था। इसका कारण यह था कि प्राचीन लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना अभी बाकी था।

उपर बतलाया जा चुका है कि संस्कृत भाषा सीखने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स था और सबसे पहले शिलालेख की ओर ध्यान देने वाला भी वही था। उसी ने १७८५ ई० में दीनाजपुर जिले में बदाल नामक स्थान के पास प्राप्त होने वाले स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख को पढ़ा था। यह लेख बंगाल के राजा नारायणपाल के समय में लिखा गया था।

उसी वर्ष में, राधाकांत शर्मा नामक एक भारतीय पण्डित ने टोवरा वाले दिल्ली के अशोकस्तम्भ पर खुदे हुए अजमेर के चौहान राजा अनलदेव के पुत्र वीसलदेव के तीन लेखों को पढ़ा। इनमें से एक लेख की मिति 'संवत् १२२० वैशाख सुदी ५' है। इन लेखों की लिपि बहुत पुरानी न होने के कारण सरलता से पढ़ी जा सकती थी। परन्तु उसी वर्ष जे० एच० हेरिंगटन ने बुद्ध गया के पास वाली नागार्जुनी और बराबर गुफाओं में से मौखरी वंश के राजा अनन्त वर्मा के तीन लेख निकलवाए जो उपर्वणित लेखों की अपेक्षा बहुत प्राचीन थे। इनकी लिपि बहुत अंशों में गुप्तकालीन लिपि से मिलती हुई होने के कारण उनका पढ़ा जाना अति कठिन था। परन्तु, चार्ल्स विल्किन्स ने चार वर्ष तक कठिन परिश्रम करके उन तीनों लेखों को पढ़ लिया और साथ ही उसने गुप्तलिपि की लगभग आधी वर्णमाला का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुप्तलिपि क्या है, इसका थोड़ा-सा परिचय यहाँ कराये देता हूँ। आजकल जिस लिपि को हम देवनागरी अथवा बालबोध लिपि कहते हैं उसका साधारणतया तीन अवस्थाओं में से प्रसार हुआ है। वर्तमान काल में प्रचलित आकृति से पहले की आकृति कुटिल लिपि के नाम से कही जाती थी। इस आकृति का समय साधारणतया ई० सन् की छठी शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक माना जाता है। इससे पूर्व की आकृति गुप्तलिपि के नाम से कही जाती है। सामान्यतः इसका समय गुप्तवंश का राजत्व काल गिना जाता है। इससे भी पहले की आकृति वाली लिपि ब्राह्मीलिपि कहलाती है। अशोक के लेख इसी लिपि में लिखे गये। इसका समय ईसा पूर्व ५०० से ३५० ई० तक माना जाता है।

सन् १८१८ ई० से १८२३ ई० तक कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताना के इतिहास की शोध खोज करते हुए राजपूताना और काठियावाड़ में बहुत से प्राचीन लेखों का पता लगाया। इनमें से सातवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के अनेक लेखों को तो उक्त कर्नल साहब के गुरु यति ज्ञानचन्द्र ने पढ़ा था। इन लेखों का सारांश अथवा अनुवाद टॉड साहब ने अपने "राजस्थान" नामक प्रसिद्ध इतिहास में दिया है।

सन् १८२८ ई० में बी० जी० वेविङ्गटन ने मामलपुर के कितने ही संस्कृत और तामिल लेखों को पढ़कर उनकी वर्णमाला तैयार की। इसी प्रकार वाल्टर इलियट ने प्राचीन कनाड़ी अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करके उसकी विस्तृत वर्णमाला प्रकाशित की।

सन् १८३४ ई० में केपटेन ट्रायर ने प्रयाग के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण गुप्तवंशी राजा समुद्र-गुप्त के लेख का बहुत सा अंश पढ़ा और फिर उसी वर्ष में डॉ० मिले ने उस सम्पूर्ण लेख को पढ़कर १८३७ ई० में भिटारी के स्तम्भ वाला स्कन्धगुप्त का लेख भी पढ़ लिया।

१८५३ ई० में डब्ल्यू० एम० वॉथ ने वलभी के कितने ही दानपत्रों को पढ़ा।

१८३७-३८ में जेम्स प्रिंसेप ने दिल्ली, कमाऊँ और एरण के स्तम्भों एवं अमरावती के स्तूपों तथा गिरनार के चट्टानों पर खुदे हुए गुप्तलिपि के बहुत-से लेखों को पढ़ा।

सांची स्तूप के चन्द्रगुप्त वाले जिस महत्वपूर्ण लेख के सम्बन्ध में प्रिंसेप ने १८३४ ई० में लिखा था कि 'पुरातत्त्व के अभ्यासियों को अभी तक भी इस बात का पता नहीं चला है कि सांची के शिलालेखों में क्या लिखा है।' उस विधिष्ट लेख को यथार्थ अनुवाद सहित १८३७ ई० में करने में वही प्रिंसेप साहब सम्पूर्णतः सफल हुए।

आप्यात्रप्रवटसु अभिनेदु आप्यात्रप्रवटसु अभिनेदु  
आप्यात्रप्रवटसु अभिनेदु आप्यात्रप्रवटसु अभिनेदु



१६८ इतिहास और संस्कृति

इस प्रकार केप्टन ट्रायर, डॉ० मिले और जेम्स प्रिंसेप के सतत परिश्रम से चार्ल्स विल्किन्स द्वारा तैयार की हुई गुप्तलिपि की अपूर्ण वर्णमाला पूरी हो गई और गुप्तवंशी राजाओं के समय तक के शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा सिक्कों आदि को पढ़ने में पूरी-पूरी सफलता और सरलता प्राप्त हो गई।

अब, बहुत सी लिपियों की आदि जननी ब्राह्मीलिपि को बारी आई। गुप्तलिपि से भी अधिक प्राचीन होने के कारण इस लिपि को एक दम समझ लेना कठिन था। इस लिपि के दर्शन तो शोधकर्ताओं को १७९५ ई० में ही हो गए थे। उसी वर्ष सर चार्ल्स मैलेट ने इलोरा की गुफाओं के कितने ब्राह्मी लेखों की नकलें सर विलियम जेम्स के पास भेजीं। उन्होंने इन नकलों का मेजर विल्फोर्ड के पास, जो उस समय काशी में थे, इसलिए भेजीं कि वे इनको अपनी तरफ से किसी पण्डित द्वारा पढ़वावें। पहले तो उनको पढ़ने वाला कोई पण्डित मिला नहीं, परन्तु फिर एक चालाक ब्राह्मण ने कितनी ही प्राचीन लिपियों की एक कृत्रिम पुस्तक बेचारे जिज्ञासु मेजर साहब को दिखलाई और उन्हीं के आधार पर उन लेखों को गलत-सलत पढ़कर खूब दक्षिणा प्राप्त की। विल्फोर्ड साहब ने उस ब्राह्मण द्वारा कल्पित रीति से पढ़े हुए उन लेखों पर पूर्ण विश्वास किया और उसके समझाने के अनुसार ही उनका अंग्रेजी भाषान्तर करके सर जेम्स के पास भेज दिया। इस सम्बन्ध में मेजर विल्फोर्ड ने सर जेम्स को जो पत्र भेजा उसमें बहुत उत्साह पूर्वक लिखा है कि "इस पत्र के साथ कुछ लेखों की नकलें उनके सारांश सहित भेज रहा हूँ। पहले तो मैंने इन लेखों के पढ़े जाने की आशा बिलकुल ही छोड़ दी, क्योंकि हिन्दुस्तान के इस भाग में (बनारस की तरफ) पुराने लेख नहीं मिलते हैं, इसलिए उनके पढ़ने की कला में बुद्धि का प्रयोग करने अथवा उनकी शोध-खोज करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह सब कुछ होते हुए भी और मेरे बहुत से प्रयत्न निष्फल चले जाने पर भी अन्त में सौभाग्य से मुझे एक वृद्ध गृह मिल गया जिसने इन लेखों को पढ़ने की कुन्जी बताई और प्राचीनकाल में भारत के विभिन्न भागों में जो लिपियाँ प्रचलित थीं, उनके विषय में एक संस्कृत पुस्तक मेरे पास लाया। निस्सन्देह, यह एक सौभाग्य सूचक शोध हुई है जो हमारे लिए भविष्य में बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।" मेजर विल्फोर्ड की इस 'शोध' के विषय में बहुत वर्षों तक किसी को कोई सन्देह नहीं हुआ, क्योंकि सन् १८२० ई० में खण्डगिरि के द्वार पर इसी लिपि में लिखे हुए लेख के सम्बन्ध में मि० स्टर्लिंग ने लिखा है कि, "मेजर विल्फोर्ड ने प्राचीन लेखों को पढ़ने की कुन्जी एक विद्वान ब्राह्मण से प्राप्त की और उनकी विद्वत्ता एवं बुद्धि से इलोरा व शालसेट के इसी लिपि में लिखे हुए लेखों के कुछ भाग पढ़े गए। इसके पश्चात् दिल्ली तथा अन्य स्थानों के ऐसे ही लेखों को पढ़ने में उस कुन्जी का कोई उपयोग नहीं हुआ। यह शोचनीय है।"

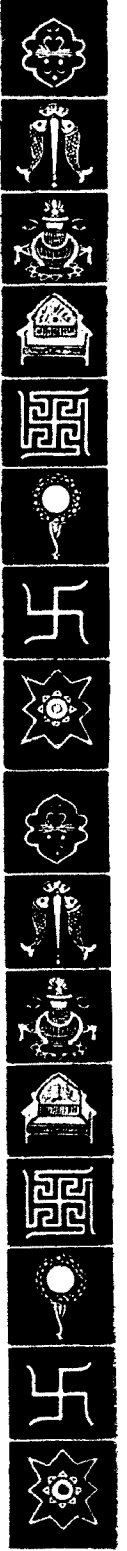
सन् १८३३ ई० में मि० प्रिंसेप ने सही कुन्जी निकाली। इससे लगभग एक वर्ष पूर्व उन्होंने मेजर विल्फोर्ड की कुन्जी का उपयोग न करने की बाबत दुःख प्रकट किया। एक शोधकर्ता जिज्ञासु विद्वान को ऐसी बात पर दुःख होना स्वाभाविक भी है। परन्तु, उस विद्वान ब्राह्मण की बताई हुई कुन्जी का अधिक उपयोग नहीं हुआ, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार शोध-खोज के दूसरे कामों में मेजर विल्फोर्ड की श्रद्धा का श्राद्ध करने वाले चालाक ब्राह्मण के धोखे में वे आ गए, इसी

प्रकार इस विषय में भी वही बात हुई। कुछ भी हुआ हो, यह तो निश्चित है कि मेजर विल्फोर्ड के नाम से कहलाने वाली सम्पूर्ण खोज भ्रमपूर्ण थी। क्योंकि उनका पढ़ा हुआ लेखपाठ कल्पित था और तदनुसार उसका अनुवाद भी वैसा ही निर्मूल था—युधिष्ठिर और पाण्डवों के वनवास एवं निर्जन जंगलों में परिभ्रमण की गाथाओं को लेकर ऐसा गड़बड़ गोटाला किया गया है कि कुछ समझ में नहीं आता। उस धर्तं ब्राह्मण के बताए हुए ऊटपटांग अर्थ का अनुसंधान करने के लिए विल्फोर्ड ने ऐसी कल्पना कर ली थी कि पाण्डव अपने वनवास काल में किसी भी मनुष्य के संसर्ग में न आने के लिए वचनबद्ध थे। इसलिए विदुर, व्यास आदि उनके स्नेही सम्बन्धियों ने उनको सावधान करने की सूचना देते रहने के लिए ऐसी योजना की थी कि वे जङ्गलों में, पत्थरों और शिलाओं (चट्टानों) पर थोड़े-थोड़े और साधारणतया समझ में न आने योग्य वाक्य पहले ही से निश्चित की हुई लिपि में संकेत रूप से लिख-लिखकर अपना उद्देश्य पूरा करते रहते थे। अंग्रेज लोग अपने को बहुत बुद्धिमान मानते हैं और हँसते-हँसते दुनिया के दूसरे लोगों को ठगने की कला उनको याद है परन्तु वे भी एक बार तो भारतवर्ष की स्वर्गपुरी मानी जाने वाली काशी के 'वृद्ध गुरु' के जाल में फँस ही गए, अस्तु एशियाटिक सोसाइटी के पास दिल्ली और इलाहाबाद के स्तम्भों तथा खण्डगिरि के दरवाजों पर के लेखों की नकलें एकत्रित थीं परन्तु विल्फोर्ड साहब की 'शोध' निष्फल चली जाने के कारण कितने ही वर्षों तक उनके पढ़ने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। इन लेखों के मर्म को जानने की उत्कट जिज्ञासा को लिए हुए मिस्टर जेम्स प्रिसेप ने १८३४-३५ ई० इलाहाबाद, रघिया और मथिआ के स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेखों की छापें मँगवाई और उनको दिल्ली के लेख के साथ रखकर यह जानने का प्रयत्न किया कि उनमें कोई सरीखा है या नहीं। इस प्रकार उन चारों लेखों को पास-पास रखने से उनको तुरंत ज्ञान हो गया कि ये चारों लेख एक ही प्रकार के हैं। इससे प्रिसेप का उत्साह बढ़ा और उनकी जिज्ञासापूर्ण होने की आशा बँध गई। इसके पश्चात् उन्होंने इलाहाबाद स्तम्भ के लेख के भिन्न-भिन्न आकृति वाले अक्षरों को अलग-अलग छांट लिया। इससे उनको यह बात मालूम हो गई कि गुप्तलिपि के अक्षरों की भाँति इसमें भी कितने ही अक्षरों के साथ स्वरों की मात्राओं के भिन्न-भिन्न पाँच चिन्ह लगे हुए हैं। इसके बाद उन्होंने पाँचों चिन्हों को एकत्रित करके प्रकट किया। इससे कितने ही विद्वानों का इन अक्षरों के यूनानी अक्षर होने सम्बन्धी भ्रम दूर हो गया।

अशोक के लेखों की लिपि को देखकर साधारणतया अंग्रेजी अथवा ग्रीक लिपि की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। टॉम कोरिएट नामक यात्री ने अशोक के दिल्ली वाले स्तम्भलेख को देखकर एल व्हीटर को पत्र में लिखा था "मैं इस देश के दिल्ली नामक नगर में आया हूँ कि जहाँ पहले अलैक्जेंडर ने हिन्दुस्तान के पोरस नामक राजा को हराया था और अपनी विजय की स्मृति में एक विशाल स्तम्भ खड़ा किया था जो आज भी यहां पर मौजूद है।" पादरी एडवर्ड टेरी ने लिखा है कि "टॉम कोरिएट ने मुझे कहा था कि उसने दिल्ली में ग्रीक लेख वाला एक स्तम्भ देखा था जो अलैक्जेंडर महान् की स्मृति में वहाँ पर खड़ा किया गया था।" इस प्रकार दूसरे भी कितने ही लेखकों ने इस लेख को ग्रीक लेख ही माना था।

उपर्युक्त प्रकार से स्वर चिन्हों को पहचान लेने के बाद मि० जेम्स प्रिसेप ने अक्षरों को पहचानने

आचार्य प्रवृत्त अभिरुद्र आचार्य प्रवृत्त अभिरुद्र  
श्रीआनन्दरत्न अन्धरुद्र श्रीआनन्दरत्न अन्धरुद्र



का उद्योग आरम्भ किया। उन्होंने पहले प्रत्येक अक्षर को गुप्तलिपि के अक्षरों के साथ मिलाने और मिलते हुए अक्षरों को वर्णमाला में शामिल करने का क्रम अपनाया। इस रीति से बहुत से अक्षर उनकी जानकारी में आ गये।

पादरी जेम्स स्टीवेन्सन ने भी प्रिसेप साहब की तरह इसी शोधन में अनुरक्त होकर 'ज' 'थ' 'प' और 'व' अक्षरों को पहचाना और इन्हीं अक्षरों की सहायता से पूरे लेखों को पढ़कर उनका अनुवाद करने का मनोरथ किया, परन्तु कुछ तो अक्षरों की पहचान में भूल होने के कारण, कुछ वर्णमाला की अपूर्णता के कारण और कुछ इन लेखों की भाषा को संस्कृत समझ लेने के कारण यह उद्योग पूरा पूरा सफल नहीं हुआ। फिर भी, प्रिसेप को इससे कोई निराशा नहीं हुई। सन् १८३५ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ प्रो० लॅस्सन ने ऑस्ट्रियन ग्रीक सिक्के पर इन्हीं अक्षरों में लिखा हुआ अँ गँ थॉ किलस का नाम पढ़ा। परन्तु १८३७ ई० के आरम्भ में मि० प्रिसेप ने अपनी अलौकिक स्फुरणा द्वारा एक छोटा-सा 'दान' शब्द शोध निकाला जिससे इस विषय की बहुत-सी ग्रन्थियाँ एक दम सुलझ गईं। इसका विवरण इस प्रकार है। ई० स० १८३७ में प्रिसेप ने सांची स्तूप आदि पर खुदे हुए कितने ही छोटे-छोटे लेखों की छापों को एकत्रित करके देखा तो बहुत से लेखों के अन्त में दो अक्षर एक ही सरीखे जान पड़े और उनके पहले 'स' अक्षर दिखाई पड़ा जिसको प्राकृत भाषा की छठी विभक्ति का प्रत्यय (संस्कृत 'स्य' के बदले) मानकर यह अनुमान किया कि भिन्न-भिन्न लेख भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किये हुए दानों के सूचक जान पड़ते हैं। फिर उन एक सरीखे दीखने वाले और पहचान में न आने वाले दो अक्षरों में से पहले के साथ 'न' आ की मात्रा और दूसरे के साथ " "—अनुस्वार चिन्ह लगा हुआ होने से उन्होंने निश्चय किया कि यह शब्द 'दान' होना चाहिए। इस अनुमान के अनुसार 'द' और 'न' की पहचान होने से आधी वर्णमाला पूरी हो गई और उसके आधार पर दिल्ली, इलाहाबाद, सांची, मेथिया, रधिया, गिरनार, धौरली आदि स्थानों से प्राप्त अशोक के विशिष्ट लेख सरलता पूर्वक पढ़ लिए गये। इससे यह भी निश्चित हो गया कि इन लेखों की भाषा, जैसा कि अब तक बहुत से लोग मान रहे थे, संस्कृत नहीं है वरन् तत्तत्स्थानों में प्रचलित देशभाषा थी (जो साधारणतया उस समय प्राकृत नाम से विख्यात थी)।

इस प्रकार ब्राह्मीलिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ और उसके योग से भारत के प्राचीन से प्राचीनतम लेखों को पढ़ने में पूरी सफलता मिली।

अब उतनी ही पुरानी दूसरी लिपि की शोध का विवरण दिया जाता है। इस लिपि का ज्ञान भी प्रायः उसी समय में प्राप्त हुआ था। इसका नाम खरोष्ठी लिपि है। खरोष्ठी लिपि आर्यलिपि नहीं है अर्थात् अनार्य लिपि है, इसको सेमेटिक लिपि के कुटुम्ब की अरमेईक् लिपि से निकली हुई मानी जाती है। इस लिपि को लिखने की पद्धति फारसी लिपि के समान है अर्थात् यह दायें हाथ से बायीं ओर लिखी जाती है। यह लिपि ईसा में पूर्व तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में केवल पंजाब के कुछ भागों में ही प्रचलित थी। शाहाबाजगढी और मन्सोरा के चट्टानों पर अशोक के लेख इसी लिपि में उत्कीर्ण हुए हैं। इसके अतिरिक्त शक, क्षत्रप, पार्थियन और कुशानवंशी राजाओं के समय के कितने बौद्ध लेखों तथा बाक्ट्रियन, ग्रीक, शक, क्षत्रप, आदि राजवंशों के कितने ही सिक्कों में यही लिपि उत्कीर्ण हुई मिलती है।

इसलिए भारतीय पुरातत्त्वज्ञों को इस लिपि के ज्ञान की विशेष आवश्यकता थी। कर्नल जेम्स टॉड ने वाकिट्रान, ग्रीक, शक, पार्थियन् और कुशानवंशी राजाओं के सिक्कों का एक बड़ा संग्रह किया था। इन सिक्कों पर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षर लिखे हुए थे। सन् १८३० ई० में जनरल बेंटुरा ने मानिकिआल स्तूप को खुदवाया तो उसमें से खरोष्ठी लिपि के कितने ही सिक्के और दो लेख प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त अलेक्जेंडर, बन्स् आदि प्राचीन शोधकों ने भी ऐसे अनेक सिक्के इकट्ठे किये थे जिनमें एक ओर के ग्रीक अक्षर तो पढ़े जा सकते थे परन्तु दूसरी ओर के खरोष्ठी अक्षरों के पढ़े जाने का कोई साधन नहीं था। इन अक्षरों के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ होने लगीं। सन् १८२४ ई० में कर्नल टॉड ने कड्फिसेस् के सिक्के पर खुदे इन अक्षरों को 'ससेनिअन्' अक्षर बतलाया। १८३३ ई० में अंपोलोडोट्स के सिक्के पर इन्हीं अक्षरों को प्रिसेप ने "पहलवी" अक्षर माने। इसी प्रकार एक दूसरे सिक्के की इसी लिपि तथा मानिकिआल के लेख की लिपि को उन्होंने ब्राह्मी लिपि मान लिया और इसकी आकृति कुछ टेढ़ी होने के कारण अनुमान लगाया कि जिस प्रकार छपी हुई और बही में लिखी हुई गुजराती लिपि में अन्तर है उसी प्रकार अशोक के दिल्ली आदि के स्तम्भों वाली और इस लिपि में अन्तर है परन्तु, बाद में स्वयं प्रिसेप ही इस अनुमान को अनुचित मानने लगे। सन् १८३४ ई० में केप्टन कोर्ट को एक स्तूप में से इसी लिपि का एक लेख मिला जिसको देखकर प्रिसेप ने फिर इन अक्षरों के विषय में 'पहलवी' होने की कल्पना की। परन्तु उसी वर्ष में मिस्टर मेसन नामक शोध कर्ता विद्वान ने अनेक ऐसे सिक्के प्राप्त किये जिन पर खरोष्ठी और ग्रीक दोनों लिपियों में राजाओं के नाम अंकित थे। मेसन साहब ने ही सबसे पहले मिनेन्द्रौ, आपोलडोटो, अरमाइओ, वासिलिओ और सोटरो आदि नामों को पढ़ा था, परन्तु यह उनकी कल्पनामात्र थी। उन्होंने इन नामों को प्रिसेप साहब के पास में भेजा। इस कल्पना को सत्य का रूप देने का यश प्रिसेप के ही भाग्य में लिखा था। उन्होंने मेसन साहब के संकेतों के अनुसार सिक्कों को बांचना आरम्भ किया तो उनमें से बारह राजाओं और सात पदवियों के नाम पढ़ निकाले।

इस प्रकार खरोष्ठी लिपि के बहुत से अक्षरों का बोध हुआ और साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि यह लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर पढ़ी जाती है। इससे यह भी निश्चय हुआ कि यह लिपि सेमेटिक वर्ग की है, परन्तु इसके साथ ही इसकी भाषा को, जो वास्तव में ब्राह्मी लेखों की भाषा के समान प्राकृत है, पहलवी मान लेने की मूल हुई। इस प्रकार ग्रीक लेखों की सहायता से खरोष्ठी लिपि के बहुत से अक्षरों की तो जानकारी हुई परन्तु भाषा के विषय में भ्रान्ति होने के कारण पहलवी के नियमों को ध्यान में रखकर पढ़ने से अक्षरों को पहचानने में अशुद्धता आने लगी जिससे थोड़े समय तक इस कार्य में अड़चन पड़ती रही। परन्तु १८३८ ई० में दो वाकिट्रान् ग्रीक सिक्कों पर पालि लेखों को देखकर दूसरे सिक्कों की भाषा भी यही होगी यह मानते हुए उसी के नियमानुसार उन लेखों को पढ़ने से प्रिसेप का काम आगे चला और उन्होंने एक साथ १७ अक्षरों को खोज निकाला। प्रिसेप की तरह मिस्टर नॉरिस ने भी इस विषय में कितना ही काम किया और इस लिपि के ७ नये अक्षरों की शोध की। बाकी के थोड़े से अक्षरों को जनरल कनिङ्गम ने पहचान लिया और इस प्रकार खरोष्ठी की सम्पूर्ण वर्णमाला तैयार हो गई।

यह भारतवर्ष की पुरानी से पुरानी लिपियों के ज्ञान प्राप्त करने का संक्षिप्त इतिहास है। उपर्युक्त



आचार्य प्रवर्तमान अभिनन्दन आचार्य प्रवर्तमान अभिनन्दन  
श्रीआनन्दरत्न अथर्वशुभ्र श्रीआनन्दरत्न अथर्वशुभ्र

वर्णन से विदित होगा कि लिपि विषयक शोध में मिस्टर प्रिसेप ने बहुत काम किया है। एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित 'सैन्टीनरी रिव्यू' नामक पुस्तक में "एन्क्वैट् इण्डियन अलफाबेट" शीर्षक लेख के आरम्भ में इस विषय पर डॉ० हार्नली लिखते हैं कि—

"सोसाइटी का प्राचीन शिलालेखों को पढ़ने और उनका भाषान्तर करने का अत्युपयोगी कार्य १८३४ ई० से १८३६ ई० तक चला। इस कार्य के साथ सोसाइटी के तत्कालीन सैक्रेटरी, मि० प्रिसेप का नाम, सदा के लिए संलग्न रहेगा; क्योंकि भारत विषयक प्राचीन लेखनकला, भाषा और इतिहास सम्बन्धी हमारे अर्वाचीन ज्ञान की आधारभूत इतनी बड़ी शोध-खोज इसी एक व्यक्ति के पुरुषार्थ से इतने थोड़े समय में हो सकी।"

प्रिसेप के बाद लगभग तीस वर्ष तक पुरातत्त्व-संशोधन का सूत्र जेम्स फर्ग्युसन मॉर्खम किट्टो, एडवर्ड टॉमस अलेक्जेंडर कनिङ्गम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, स्टीवेन्सन, डॉ० भाऊदाजी आदि के हाथों में रहा। इनमें से पहले चार विद्वानों ने उत्तर हिन्दुस्तान में, इलियट साहब ने दक्षिण भारत में और पिछले तीन विद्वानों ने पश्चिमी भारत में काम किया। फर्ग्युसन साहब ने पुरातन वास्तु विद्या का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ा परिश्रम किया और उन्होंने इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इस विषय का उनका अभ्यास इतना बढ़ा चढ़ा था किसी भी इमारत को केवल देखकर वे सहज ही में उसका समय निश्चित कर देते थे। मेजर किट्टो बहुत विद्वान तो नहीं थे परन्तु उनकी शोधक बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। जहाँ अन्य अनेक विद्वानों को कुछ जान न पड़ता था वहाँ वे अपनी गिद्ध जैसी पैनी दृष्टि से कितनी ही बातें खोज निकालते थे। चित्रकला में वे बहुत निपुण थे। कितने ही स्थानों के चित्र उन्होंने अपने हाथ से बनाये थे और प्रकाशित किये थे। उनकी शिल्पकला विषयक इस गम्भीर कुशलता को देखकर सरकार ने उनको बनारस के संस्कृत कॉलेज का भवन बनवाने का काम सौंपा। इस कार्य में उन्होंने बहुत परिश्रम किया जिससे उनका स्वास्थ्य गिर गया और अन्त में इंग्लैण्ड जाकर वे स्वर्गस्थ हुए। टॉमस साहब ने अपना विशेष ध्यान सिक्कों और शिलालेखों पर दिया। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम करके ई० स० पूर्व २४६ से १५५४ ई० तक लगभग १८०० वर्षों के प्राचीन इतिहास की शोध की। जनरल कनिङ्गम ने प्रिसेप का अवशिष्ट कार्य हाथ में लिया। उन्होंने ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इलियट साहब ने कर्नल मेकेन्जी के संग्रह का संशोधन और संवर्द्धन किया। दक्षिण के चालुक्य वंश का विस्तृत ज्ञान सर्व प्रथम उन्होंने लोगों के सामने प्रस्तुत किया। टेलर साहब ने भारत की मूर्ति निर्माण विद्या का अध्ययन किया और स्टीवेन्सन ने सिक्कों की शोध-खोज की। पुरातत्त्व-संशोधन के कार्य में प्रवीणता प्राप्त करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान डॉक्टर माउदाजी थे। उन्होंने अनेक शिलालेखों को पढ़ा और भारत के प्राचीन इतिहास के ज्ञान में खूब वृद्धि की। इस विषय में दूसरे नामांकित भारतीय विद्वान काठियावाड़ निवासी पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने पश्चिम भारत के इतिहास में अमूर्त्य वृद्धि की है। उन्होंने अनेक शिलालेखों और ताम्रपत्रों को पढ़ा है परन्तु उनके कार्य का सच्चा स्मारक तो उनके द्वारा उड़ीसा के खण्डगिरि-उदयगिरि वाली हाथी गुफा में सम्राट खारवेल के लेखों का शुद्ध रूप से पढ़ा जाना ही है। बंगाल के विद्वान डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र का नाम भी इस विषय में विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है। उन्होंने नेपाल के साहित्य का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया है।

अब तक इतना कार्य विद्वानों ने अपनी ही ओर से शोध-खोज करके किया था, सरकार की ओर से इस विषय में कोई विशेष प्रबन्ध नहीं हुआ था। परन्तु यह कार्य इतना बड़ा महाभारत है कि सरकार की सहायता के बिना इसका पूरा होना अशक्य है। सन् १८४४ ई० में लन्दन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से प्रार्थना की कि सरकार को इस कार्य में सहायता करनी चाहिए। अतः सन् १८४७ ई० में लार्ड हार्डिञ्ज के प्रस्ताव पर बोर्ड आफ डायरेक्टर्स ने इस कार्य के लिए खर्चा देने की स्वीकृति दे दी; परन्तु १८५० ई० तक इसका कोई वास्तविक परिणाम नहीं निकला। सन् १८५१ ई० में संयुक्त प्रान्त के चीफ एन्जीनियर कर्नल कनिङ्गम ने एक योजना तैयार करके सरकार के पास भेजी और यह भी सूचना दी कि यदि गवर्नमेंट इस कार्य की ओर ध्यान नहीं देगी तो जर्मन और फ्रेञ्च लोग इस कार्य को हथिया लेंगे और इससे अंग्रेजों के यश की हानि होगी। कर्नल कनिङ्गम की इस सूचना के अनुसार गवर्नर जनरल की सिफारिश से १८५२ ई० में ऑर्कियोलॉजिकल सर्वे नामक विभाग स्थापित किया गया और कर्नल कनिङ्गम ही इस विभाग का नियमन करने के लिए, २५० रु० मासिक अतिरिक्त वेतन पर, डायरेक्टर नियुक्त हुए। यह एक अस्थायी योजना थी। सरकार की यह धारणा थी कि बड़े-बड़े और महत्वपूर्ण स्थानों का यथातथ्य वर्णन, तत्सम्बन्धी इतिहास एवं किम्वदन्तियों आदि का संग्रह किया जावे। नौ वर्षों तक सरकार की यह नीति चालू रही और तदनुसार कनिङ्गम साहब ने भी अपनी नौ रिपोर्टें प्रकाशित कीं।

सन् १८७१ ई० से सरकार की इस धारणा में कुछ फेरफार हुआ। कनिङ्गम की रिपोर्टों से सरकार को यह लगा कि सम्पूर्ण हिन्दुस्तान महत्वपूर्ण स्थानों से भरा पड़ा है और उनकी विशेष रूप से शोध-खोज होने की आवश्यकता है। अतः समस्त भारत की शोध-खोज करने के लिए कनिङ्गम साहब को डायरेक्टर जनरल बनाकर उनकी सहायता करने के लिए अन्य विद्वानों को नियुक्त किया गया। परन्तु १८७४ ई० तक कनिङ्गम साहब उत्तरी हिन्दुस्तान में ही काम करते रहे इसलिए उसी वर्ष दक्षिणी भाग की गवेषणा करने के लिए डॉक्टर वर्जेंस की नियुक्ति की गई।

इस विभाग का कार्य केवल प्राचीन स्थानों की शोध करने का था और उनके संरक्षण का कार्य प्रान्तीय सरकारों के आधीन था, परन्तु इन सरकारों द्वारा इस ओर पूरा ध्यान न देने के कारण उचित संरक्षण के अभाव में कितने ही प्राचीन स्थान नष्ट होने लग गये थे। इस दुर्दशा को देखकर लार्ड लिटन ने १८७८ ई० में “क्यूरेटर ऑफ एन्ड्रुगण्ट मॉन्यूमण्ट्स” नामक पद पर एक नवीन अधिकारी की नियुक्ति करने का विचार किया। उस अधिकारी के लिए प्रत्येक प्रान्त के संरक्षणीय स्थानों की सूची बनाकर उनमें से कौन-कौन से स्थान मरम्मत करने लायक तो नहीं परन्तु पूर्ण रूपेण नष्ट नहीं हुए हैं और कौन-कौन से स्थान पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं इत्यादि बातों का विवरण तैयार करने का कार्य निश्चित किया गया, इस योजना के अनुमार ‘सेक्रेटरी आफ स्टेट’ को लिखा गया परन्तु उन्होंने लार्ड लिटन के प्रस्ताव को अस्वी-करके यह भार डायरेक्टर जनरल के ही ऊपर डाल देने के लिए लिखा। परन्तु १८८० ई० में भारत सरकार ने भारत मंत्री को फिर लिखा कि डायरेक्टर जनरल को इस कार्य के लिए अवकाश नहीं मिलता है और दूसरे प्रबन्ध के बिना बहुत से महत्व के स्थान नष्ट होते जा रहे हैं। तब १८८१ ई० से १८८३ ई० तक मेजर कोल आ० ई० की नियुक्ति क्यूरेटर के पद पर हुई और उन्होंने इन तीन वर्षों में “प्रीज-

आचार्यप्रवचन अभिनेता आचार्यप्रवचन अभिनेता  
श्रीआनन्दजी अर्थव्यवस्था श्रीआनन्दजी अर्थव्यवस्था



वैशन आफ नेशनल मॉन्यूमेंटस् आफ इण्डिया" नाम की तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं। इसके पश्चात् यह पद कम कर दिया गया।

सन् १८८५ ई० में कनिङ्गम साहब अपने पद से निवृत्त हुए। १८६२ से १८८५ ई० तक उन्होंने २४ रिपोर्टें प्रकाशित कीं, जिनको देखने से उनके अलौकिक परिश्रम का अनुमान लगाया जा सकता है। इतनी योग्यता के साथ इतने बड़े कार्य को बहुत थोड़े ही मनुष्य कर सकते हैं। कनिङ्गम के बाद डायरेक्टर जनरल के पद पर वर्जेंस साहब की नियुक्ति हुई। गवेषणा के अतिरिक्त संरक्षण का कार्य भी उन्हीं के अधिकार में सौंपा गया। सर्वे करने के लिए हिन्दुस्तान को पाँच भागों में विभक्त किया गया और प्रत्येक भाग में एक-एक सर्वेअर नियुक्त किया गया। बम्बई, मद्रास, राजपूताना और सिन्ध तथा पंजाब, मध्य-प्रदेश और वायव्यप्रान्त मध्यभारत, और आसाम तथा बंगाल, इस प्रकार पाँच भाग नियत किये गये परन्तु सर्वेअरों की नियुक्ति केवल उत्तर भारत के तीन भागों में ही की गई; बम्बई तथा मद्रास प्रान्तों का कार्य डॉ० वर्जेंस के ही हाथ में रहा।

परन्तु, अब तक भी सरकार की इच्छा इस विभाग को स्थायी बनाने की नहीं हुई थी। वह यह समझे हुए थी कि पाँच वर्ष में यह कार्य पूरा हो जावेगा; इसलिए प्राचीन लेखों को पढ़ने के लिए एक यूरोपियन विद्वान् की नियुक्ति करने, साथ ही कुछ स्थानीय विद्वानों की सहायता लेने का निश्चय किया।

सन् १८८९ ई० में डॉ० वर्जेंस भी अपने पद से विलग हुए, इसलिए अब इस विभाग की दशा बिगड़ने लगी। सरकार ने एतद् विभागीय हिसाब की जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया, जिसने अपनी रिपोर्ट में खर्च की बहुत सी काट-छाँट करने की सिफारिश की। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी काट-छाँट और कमी की सिफारिशों सरकार स्वीकार कर ही लेती है। डॉ० वर्जेंस के बाद डायरेक्टर जनरल का पद खाली रखा गया और बंगाल व पंजाब के सर्वेअरों को भी छुट्टी मिली। यह काट-छाँट करने के उपरान्त सरकार ने इस योजना को केवल पाँच ही वर्ष चालू रखने का मन्तव्य प्रकट किया। परन्तु सरकारी आज्ञा मात्र से एकदम काम कैसे हो सकता है? १८९० ई० से १८९५ ई० तक के पाँच वर्षों में इस विभाग की दशा बहुत शोचनीय रही और काम पूरा न हो सका। १८९५ ई० से १८९८ ई० तक सरकार यह विचार करती रही कि इस विषय में क्या किया जावे? फिर, १८९८ ई० में यह विचार हुआ कि अभी इस विभाग से शोध-खोज का काम बन्द करके केवल संरक्षण का ही काम लेना चाहिए।

इस नये विचार के अनुसार निम्नलिखित पाँच क्षेत्र निश्चित किये गये—

- (१) मद्रास और कुर्ग।
- (२) बम्बई, सिन्ध और बरार।
- (३) संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रदेश।
- (४) पंजाब, ब्रिटिश बलूचिस्तान और अजमेर।
- (५) बंगाल और आसाम।

सन् १८९९ ई० के फरवरी मास की पहली तारीख को लॉर्ड कर्जन ने एशियाटिक सोसाइटी के

समारम्भ में इस विभाग को खूब उन्नत करने का विचार प्रकट किया। इसके पश्चात् १९०१ ई० में इस विभाग के लिए एक लाख रुपया वार्षिक खर्च की स्वीकृति हुई और डायरेक्टर जनरल की फिर से नियुक्ति की गई। सन् १९०२ ई० में नए डायरेक्टर जनरल मार्शल साहब भारत में आये और तभी से इस विषय का नया इतिहास आरम्भ होता है, जिसके बारे में आज कुछ कहना मेरा विषय नहीं है। जब इस विषय पर अपना कुछ अधिकार होगा तभी इसका विवेचन किया जावेगा।

अंग्रेज सरकार का अनुकरण करते हुए कितने ही देशी राज्यों ने भी अपने यहाँ ऐसे विभागों की स्थापना की। भावनगर संस्थान के कितने ही पण्डितों ने काठियावाड़, गुजरात और राजपूताने के अनेक शिलालेखों और दानपत्रों की नकलें प्राप्त करके 'भावनगर प्राचीन शोध संग्रह' नामक पुस्तक में प्रकाशित कीं। काठियावाड़ के भूतपूर्व पोलिटिकल एजेन्ट कर्नल वाटसन् का प्राचीन वस्तुओं पर बहुत प्रेम था अतः वहाँ के कुछ राजाओं ने मिलकर राजकोट में 'वाटसन् म्यूजियम' नामक 'पुराण वस्तु संग्रहालय' की स्थापना की जिसमें अनेक शिलालेखों, ताम्रपत्रों, पुस्तकों और सिक्कों आदि का अच्छा संग्रह हुआ है। मैसूर राज्य में भी एक संग्रहालय की स्थापना हुई और साथ ही आर्किऑलॉजिकल डिपार्टमेंट भी स्वतंत्र रूप से खोला गया है, जिसके द्वारा आज तक अनेक रिपोर्टें, पुस्तकें और लेख-संग्रह आदि छपकर प्रकाश में आए हैं। यहाँ से एथिग्राफिआ कर्नाटिका नाम की एक सिरीज प्रकाशित होती है जिसमें हजारों शिलालेख, ताम्रपत्र इत्यादि निकल चुके हैं। इसी प्रकार त्रावणकोर, हैदराबाद और काश्मीर राज्यों में भी स्वतंत्र रूप से कार्य होता है। इसके अतिरिक्त उदयपुर, जालावाड़, भोपाल, बड़ौदा, जूनागढ़, भावनगर आदि राज्यों में भी स्थानीय संग्रहालय बनते जा रहे हैं।

ब्रिटिश राज्य में सरकार और अन्य संस्थाओं तथा व्यक्तियों द्वारा संग्रहित पुरानी वस्तुओं को बम्बई, मद्रास, कलकता, नागपुर, अजमेर, लाहौर, लखनऊ, मथुरा, सारनाथ, पेशावर आदि स्थानों के पदार्थ संग्रहालयों में सुरक्षित रखा जाता है; इन्हीं में से बहुत सी वस्तुएँ लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में भी भेज दी जाती हैं। इन विशिष्ट वस्तुओं का वर्णन विभिन्न संस्थाएँ अपनी-अपनी रिपोर्टों और सूचीपत्रों (कैटेलाग्स) द्वारा प्रकाशित करती रहती हैं। शिलालेखों, ताम्रपत्रों और सिक्कों आदि विभिन्न विषयों की अलग-अलग विशेष पुस्तकें और ग्रन्थमालाएँ निकलती रहती हैं।

जिस प्रकार हिन्दुस्तान में पुरातत्व की गवेषणा का कार्य चालू हुआ उसी प्रकार यूरोप में भी चला। फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, रूस आदि राज्यों ने इस विषय के लिए अपने यहाँ स्वतंत्र सोसाइटियाँ एकेडेमियाँ आदि स्थापित कीं और वहाँ के विद्वानों ने भारतीय साहित्य एवं इतिहास को प्रकाश में लाने के लिए अत्यन्त परिश्रम किया। हमारे नष्टप्रायः हजारों ग्रन्थों का संग्रह करके, उनको पढ़कर तथा प्रकाशित करके उद्धार किया है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए जितना काम जर्मन विद्वानों ने किया उतना दूसरों ने नहीं किया। तुलनात्मक भाषाशास्त्र पर जर्मनों ने जितना अधिकार प्राप्त किया है उतना दूसरों ने नहीं। अन्यान्य विषयों पर भी बहुत सी विशिष्ट मौलिक शोधें जर्मन विद्वानों के हाथों हुई हैं। अंग्रेजों का तो भारत के साथ विशेष सम्बन्ध था, बस, इसीलिए उन्होंने थोड़ा बहुत कार्य करने का उपक्रम किया था। अस्तु।

अध्याय प्रवचन अभिनन्दन अध्याय प्रवचन अभिनन्दन  
 अध्याय प्रवचन अभिनन्दन अध्याय प्रवचन अभिनन्दन



इस प्रकार देश में और विदेश में व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा किये गये पुरातत्त्वानुसंधान से हमारी प्राचीन संस्कृति के बहुत से अज्ञात अध्याय सामने आये हैं। शिशुनाग, नन्द, मौर्य, ग्रीक, शातकर्णी, शक, पार्थीअन्, कुशाण, क्षत्रप, आभीर, गुप्त, हूण, योधेय, वैस, लिच्छवी, परिव्राजक, वाकाटक, मौखरी, मैत्रक, गुहिल, चावड़ा, चालुक्य, प्रतिहार, परमार, चाहमान, राष्ट्रकूट, कच्छवाह, तोमर, कलचुरी, त्रेकुटक, चन्देला, यादव, गुर्जर, मिहिर, पाल, सेन, पल्लव, चोल, कदम्ब, शिलार, सेन्द्रक, काकतीय, नाग, निकुम्भ, वाण, मत्स्य, शालकायन, शैल, भृषक आदि अनेक प्राचीन राजवंशों का एक विस्तृत इतिहास जिसके विषय में हमें एक अक्षर भी ज्ञात नहीं था, इन्हीं विद्वानों के प्रयत्नों से प्राप्त हुआ है। अनेक जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, धर्माचार्यों, विद्वानों, धनिकों, दानियों और वीर पुरुषों के वृत्तान्तों का परिचय मिला है और असंख्य प्राचीन नगरों, मन्दिरों, स्तूपों और जलाशयों आदि की मूल बातें विदित हुई हैं। सौ वर्ष पूर्व हमें इनमें से किसी वस्तु के बारे में कुछ भी मालूम नहीं था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि पुरातत्त्वसंशोधन का कितना अधिक महत्व है। यह देश के इतिहास को शुद्ध और सम्पूर्ण बनाता है। इससे प्रजा के भूतकाल का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है और भविष्यत् में हमें किस मार्ग का अवलम्बन करना है, इसका सच्चा मार्गदर्शन होता है।

विद्वानों का कहना है कि भारतवर्ष में जो पुरातत्त्व सम्बन्धी कार्य अब तक हुआ है वह देश की विशालता एवं विविधता को देखते हुए केवल बाल-बोध पुस्तक के प्रथम पृष्ठ का उद्घाटन मात्र हुआ है। उनके ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। क्योंकि इस देश में अभी तक इतनी अधिक वस्तुएँ छिपी, गड़ी और दबी हुई पड़ी हैं कि सैकड़ों विद्वान् कितनी ही शताब्दियों तक परिश्रम करके ही उनको प्रकाश में ला सकते हैं।

भारत के राष्ट्रीय जीवन के नवीन इतिहास सम्बन्धी कोरी पुस्तक में “श्री गणेशाय नमः” लिखने का विशिष्ट श्रेय गुजरात ही को प्राप्त होगा, ऐसा ईश्वरीय संकेत दिखाई पड़ता है। अतः हमारी ऐसी भावना होनी चाहिए कि राष्ट्रीय इतिहास के प्रत्येक अध्याय के आदि में गुजरात का प्रथम उल्लेख हो और तदनुसार ही हमको प्रगति करनी चाहिए, और ऐसे ही किसी अज्ञात संकेत के आधार पर हमारे राष्ट्रीय शिक्षण मन्दिर के साथ पुरातत्त्व मन्दिर की भी स्थापना हुई है। इसको सफल बनाने का लक्ष्य हमारे प्रत्येक विद्यार्थी में प्रभु उत्पन्न करें इसी अभिलाषा के साथ में अपना व्याख्यान समाप्त करता हूँ।

#### पुनश्च

कोई ३५ वर्ष पूर्व, मैंने अपना यह व्याख्यान लिखा था और उस समय भारत के पुरातात्विक संशोधन के इतिहास के बारे में जो खास-खास बातें जानने जैसी थीं, उनका संक्षेप में—केवल दिग्दर्शन रूप वर्णनमात्र इस व्याख्यान में किया था। गुजरात विद्यापीठ के, महाविद्यालय (कालेज विभाग) में अध्ययन करने वाले स्नातकों को, अपने देश के प्राचीन इतिहास की साधन सामग्री का अन्वेषण और अनुसन्धान कैसे किया गया—इसका कुछ आभास मात्र कराने का वह प्रयत्न था।

विदेशी शासन की पराधीनता से भारत को मुक्त कराने का महात्मा गांधीजी ने जो दृढ़ संकल्प

किया और उसके लिए राष्ट्रव्यापक जो विशाल कार्यक्रम उन्होंने बनाया, सद्भाग्य से उस कार्यक्रम के एक प्रमुख अंग की सेवा में सर्व प्रथम समायोग देने का सुयोग मुझे मिला। सन् १९२० में नवजीवनोन्मुख गुजरात में, मेरे ही क्षुद्र निमित्त एवं प्रयत्न से, 'गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर' की स्थापना हुई थी और लगभग ३० वर्ष के बाद, १९५० में नूतन संघटित सुविशाल राजस्थान में भी, उसी प्रकार के कार्य की प्रगति और प्रवृद्धि के निमित्त, इसी जन के प्रयत्न से, 'राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर' की स्थापना होकर, इसकी सेवा में भी सर्वप्रथम योग देने का सौभाग्य मुझको मिला। अपने जीवन की दृष्टि से, मुझे यह भी कोई ऐतिहासिक विधान-सा मालूम देता है।

सन् १९२० में, जब गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर की स्थापना हुई, तब भारत सब प्रकार से पराधीन था। उस पराधीनता से भारत को कैसे मुक्ति मिले और कैसे यह पुरातन-गरिमा-गौरवशाली दिव्य देश स्वतन्त्र होकर संसार में अपना गुरुपद प्राप्त करे उसकी उत्कट आकांक्षा से प्रेरित होकर, अहिंसा एवं सत्य के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वदर्शी महर्षि स्वरूप महात्माजी ने देश के सन्मुख अहिंसात्मक सत्याग्रह रूप अद्भुत संग्राम का उद्घोष किया। इस सत्वगुणी संग्राम में अनेक प्रकार के अहिंसक आक्रमण-प्रत्याक्रमण होने के बाद, अन्त में सन् १९४७ के अगस्त की १५वीं ता० को, भारत ने सर्व-प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्रता प्राप्त की। इस प्रकार अहिंसक संघर्ष द्वारा सार्वभौम स्वातन्त्र्य प्राप्त करने की घटना भी, संसार के इतिहास में एक विस्मयकारिणी घटना है और हमारे लिये नहीं सारे संसार के लिये वह इतिहास की अद्भुत अनुभूति होती जा रही है। सम्भव है आगामी पीढ़ियों के लिये यह भी एक सबसे महत्त्व का पुरातात्विक संशोधन का विषय बन जाय।

भारत की इस स्वातन्त्र्य प्राप्ति वाली राष्ट्रीय महाक्रान्ति में कुछ अन्यान्य आन्तरिक महाक्रान्ति-सूचक घटनायें भी हुईं, जिनमें दो घटनाएँ सबसे मुख्य हैं। इनमें एक तो यह कि इतिहास के आदिकाल से लेकर आज तक पुण्यभूमि भारत का कभी कोई अंग भंग नहीं हुआ था; पर इस महाक्रान्ति में अनादि स्वरूप अखण्ड भारत का अंग भंग होकर, उसका इतिहास प्रसिद्ध एवं संस्कृति समृद्ध आर्यावर्त का मूल-भूत अंग पृथक हो, पाकिस्तान के रूप में घटित हो गया। गान्धार, पञ्चनद, सिन्धु-सौवीर जैसे इस पुण्य-भूमि के प्राचीनतम पवित्र प्रदेश, इससे विलग होकर, भिन्न धर्मिय और भिन्न जातीय संस्कृति के केन्द्र बनने जा रहे हैं। इसका दूरगामी ऐतिहासिक परिणाम क्या होगा और समग्र भारतीय संस्कृति का भावी रूप कैसा बनेगा—यह तो भावी इतिहासकार ही के अन्वेषण का विषय होगा।

दूसरी महाक्रान्ति सूचक घटना है—भारत में इतिहासातीत काल से अपना अस्तित्व बताने वाली सब प्रकार की छोटी बड़ी राजसत्तायें—जिनकी संख्या कई सैकड़ों में थी, बिल्कुल शांतिपूर्ण और सहानुभूतिमय ढंग से विलुप्त होकर, सम्पूर्ण भारत में, जनसत्तात्मक लोकहितकारी सुदृढ़ शासन तन्त्र की स्थापना होना। संसार के किसी भी राष्ट्र में इस प्रकार के जनसत्तात्मक शासनतन्त्र की ऐसी अद्भुत रीति से, शान्तिमय स्थापना नहीं हुई है। भारत के भावी इतिहास में यह भी एक बहुत अद्भुत घटना उल्लिखित होगी।

'राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर' की स्थापना भी इसी ऐतिहासिक घटना का एक परिणाम है। राज-

आचार्य प्रवचन अभिनन्दन आचार्य प्रवचन अभिनन्दन  
श्री आनन्द श्रेष्ठ अन्धक श्री आनन्द श्रेष्ठ अन्धक



१७८ इतिहास और संस्कृति

स्थान प्रदेश, प्राचीनकाल से छोटी-बड़ी अनेक राजसत्ताओं का एक विशिष्ट केन्द्र रहा है। समूचे भारत के भूतकालीन इतिहास पर इस केन्द्र का बड़ा भारी प्रभाव रहा है। पिछली १५ शताब्दियों से इस केन्द्र ने भारत के गौरव, स्वातन्त्र्य, स्वधर्म और स्व जातीय संस्कृति की रक्षा में जैसा प्रबल योग दिया है और जो सर्वस्व त्याग किया है वह सर्वथा अनुपम और अद्भुत है। राजस्थान केन्द्र के उन भूतकालीन गौरवशाली राजवंशों की सन्तानों ने भी सद्भाव पूर्वक अपनी राजसत्ताएँ, भारत के एकात्मक जनतन्त्र को समर्पण कर भूतकालीन अपने पुण्य नाम पूर्वजों की ही तरह, नूतन भारत के पुनरुत्थान में, अपनी राष्ट्रभक्ति प्रदर्शित की है; और इस प्रकार अब यह विशाल राजस्थान नामक जनतन्त्रात्मक राज्य प्रदेश बनकर समग्र भारत का अविभाज्य एवं अनन्य रूप अंग बन गया है। 'राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर' इसी विशाल राजस्थान की पुरातत्त्व-विषयक सब प्रकार की साधन सामग्री का अन्वेषण, अनुसन्धान, संग्रह, संरक्षण, सम्पादन, प्रकाशन आदि कार्य करने की दृष्टि से स्थापित हुआ है और विगत कई वर्षों से यह यथासाधन, एवं यथायोग्य कार्य उत्साह पूर्वक कर रहा है।

मैंने, ऊपर मुद्रित अहमदबाद वाले व्याख्यान में सन् १९२० से पूर्व, भारतीय पुरातत्त्व विषयक विकास क्रम के बारे में जो विशिष्ट बातें जानने जैसी थीं, उनका कुछ दिग्दर्शन किया है। उसके बाद पिछले ३०-४० वर्षों में जो कुछ नई बातें जानने जैसी हुई हैं उनका भी कुछ थोड़ा सा यहाँ उल्लेख कर दिया जाय तो उपयुक्त होगा, यह सोचकर मैंने यह अनुपूर्ति लिखने का प्रयत्न किया है।

संसार के पुरातत्त्ववेत्ताओं ने यह तो बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था कि भारतीयों का प्राचीन साहित्य जो संस्कृत भाषा में उपलब्ध है, वह संसार का सबसे प्राचीन उपलब्ध वाङ्मय है; पर उसमें ग्रथित ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के आधार पर, तथ्यपूर्ण इतिहास का संकलन करना सम्भव नहीं माना जाता। पुराणों में जो प्राचीन राजवंशों की वंशावलियाँ दी गई हैं उनके अनुसार तो भारत का प्राचीन इतिहास, बीसों हजार वर्ष पहले से प्रारम्भ होता है पर इतिहास के मुख्य आधारभूत जो अन्यान्य साधन जैसे शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के, पाषाण घटित मूर्ति, मृणमयपत्र आदि माने जाते हैं। उनके आधार से तो भारत के प्राचीन इतिहास का प्रारम्भ विक्रम या ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्व कोई १०००-१५०० वर्ष के अन्दर-अन्दर ही अनुमानित किया जाता है। इससे अधिक प्राचीनकाल के निश्चयक कोई वैसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। इस अभिप्रायानुसार, सन् १९२० तक, पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत में भारत की प्राचीन संस्कृति का उद्गम कोई ३०००-३५०० वर्ष से अधिक पुरातन नहीं माना जाता था।

सन् १९२१ में, पश्चिमी पंजाब के मांटगोमरी जिले के हड़प्पा नामक स्थान में, पुराने टीले की खुदाई करते हुए, भारतीय पुरातत्त्वज्ञ दयाराम साहनी को, जमीन में से कुछ ऐसे पुरातन अवशेष प्राप्त हुए, जो पुरातत्त्ववेत्ताओं की परिभाषा के अनुसार 'कल्कों लिथिक' 'प्रस्तर-ताम्रयुग' समय के सूचक हैं। उसके दूसरे वर्ष (१९२२) में सिन्ध के मोहें-जो-दड़ो नामक स्थान में भी उसी प्रकार के अनेकानेक पुरातन अवशेष, प्रसिद्ध इतिहासज्ञ राखालदास बेनर्जी को मिले। इन विशिष्ट प्रकार के अवशेषों की, विशेष प्रकार से, छानबीन करने पर और बलूचिस्तानादि में प्राप्त उनसे मिलते-जुलते वैसे ही अवशेषों का तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुसन्धान करने से, पुराविदों का निश्चित मत बना कि भारत में प्राप्त प्रागैति-

हासिक अथवा आद्य-ऐतिहासिक सामग्री में यह सबसे अधिक प्राचीन सामग्री है। इस सामग्री की प्राप्ति से भारतीय इतिहास का प्राचीनतम समय कोई ५००० वर्ष से भी अधिक पुरातन माना जाने लगा है। हड़प्पा और मोहें-जो-दड़ो में जो प्रागैतिहासिक अवशेष मिले हैं उनका विश्लेषण करने पर पुराविदों का अभिमत बना है कि ये अवशेष किसी ऐसे—जन समूह विशेष से सम्बन्धित हैं, जो आर्यों के भारत में आने के पूर्व, उस प्रदेश में निवास करता था। सिन्धु नदी के निकटस्थ प्रदेश में इन अवशेषों की प्राप्ति होने से विद्वानों ने इसको 'सिन्धु सभ्यता' या 'सिन्धु संस्कृति' के नाम से आलेखित करना उचित माना है। इस सिन्धु सभ्यता की खोज से भारत के प्रागैतिहासिक अथवा आद्य-ऐतिहासिक समय के बारे में अनेक नये मन्तव्य और नये ज्ञातव्य प्रकाश में आ रहे हैं। देश और विदेश के अनेक विद्वानों द्वारा इस विषय पर अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं।

पर यह सारा विषय, अभी तक अनुमान प्रमाणाधीन है। निश्चित तथ्यज्ञापक कोई वस्तु प्रस्तुत नहीं हो सकी है। मोहें-जो-दड़ो में कुछ ऐसी सामग्री भी उपलब्ध हुई है जिस पर संकेतात्मक कुछ रेखा-चिन्ह अंकित हैं। पुराविद् इन चिन्हों को किसी लिपि विशेष के संकेत मान रहे हैं। एक प्रकार की कोई चित्रलिपि के द्योतक ये संकेत समझे जाते हैं। देश और विदेश के कई विद्वानों ने इस लिपि के संकेतों का रहस्योद्घाटन या अर्थ ज्ञान प्राप्त करने के भी नाना प्रकार के प्रयत्न किये हैं। पर उसमें सर्वसम्मत सफलता अभी तक किसी को प्राप्त नहीं हुई है। और जब तक इस लिपि का निश्चिन्त ज्ञान न हो जाय तब तक इस विषय पर निश्चयात्मक मन्तव्य प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, यह स्वाभाविक है। पर इसमें तो कोई शंका की बात नहीं है कि सिन्धु सभ्यता की शोध ने भारत के प्राचीन इतिहास की कालमर्यादा को कई हजार वर्ष पूर्व प्रस्थापित कर दिया है।

इस प्रकार पिछले ३०-३५ वर्ष दरम्यान भारत के पुरातात्त्विक संशोधन के विषयों में 'सिन्धु-सभ्यता' का आविष्कार सबसे महत्व का विषय बना है। इस 'सिन्धु सभ्यता' की खोज का क्षेत्र भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। मोहें-जो-दड़ो और हड़प्पा (जो अब तो भारत के अधिकार प्रदेश में भी नहीं रहे और पाकिस्तान के आधीन हो गये हैं) के अतिरिक्त, पंजाब के अम्बाला जिले में रूपड़ नामक स्थान में, तथा सौराष्ट्र (गुजरात) के रंगपुर नामक स्थान में भी 'सिन्धु सभ्यता' के सूचक पुरातत्त्व अवशेष प्राप्त हुए हैं। राजस्थान के बीकानेर प्रदेश में भी पुरातन नामावशेष घग्घर नदी के तीरस्थ भूभाग में 'सिन्धु सभ्यता' के परिचायक अवशेष उपलब्ध होते जा रहे हैं।

भारत अब सर्व प्रभुत्वसम्पन्न महागणराज्य है। संसार में इसकी प्रतिष्ठा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। विश्व के सभी लोग हमारे देश की प्राचीन संस्कृति के बारे में अधिकाधिक रुचि और जिज्ञासा रख रहे हैं। १९२० में भारत का सरकारी पुरातत्त्व विभाग (आर्कियाॅलॉजिकल डिपार्टमेंट) विदेशी सत्ता के नियन्त्रण में था। उस समय इसके कार्यकलाप के विषय में कोई विशेष आशाजनक बात कहने में, हमें वैसा उत्साह नहीं था। अतः इस बात को लक्ष्य कर हमने ऊपर उल्लिखित यह वाक्य कहा था कि 'जब इस विषय पर अपना कुछ अधिकार होगा तभी इसका विवेचन किया जायेगा'। उक्त वाक्य लिखते समय (१९२० में) यह कोई कल्पना नहीं थी, कि हमें अपने ही जीवनकाल में ऐसा सुदिन भी

आचार्य प्रवृत्त अमिन्दा आचार्य प्रवृत्त अमिन्दा  
श्रीआनन्दजी अन्धदुःखी श्रीआनन्दजी अन्धदुःखी



१८० इतिहास और संस्कृति

देखने को मिल जायगा, जिसमें हमारी मनःकामना पूर्ण होकर रहेगी, और भारत का पुरातत्त्व विभाग, स्वतन्त्र भारत के सार्वभौम अधिकार के नीचे, अपना गौरव प्रस्थापक अन्वेषणात्मक कार्य, उत्साहवर्धक स्थिति में करता हुआ देखने को मिलेगा।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने अपने पुरातत्त्व विभाग को भी सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने का प्रयत्न किया है। इस विभाग की ओर से १९५३ में, सन् १९०२ से लेकर १९५० तक के ५० वर्षों का 'आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' के कार्य का विवरण प्रकाशित किया है, जिसमें भारत के पुरातत्त्व विषयक अन्वेषण, अनुसन्धान, संरक्षण, समुत्खनन आदि कार्यों के बारे में यथाप्राप्त विवेचन लिखा गया है। साथ में अब भविष्य में क्या-क्या काम किये जाने चाहिए, इसका भी कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। आशा है इस 'राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर' द्वारा भी इस कार्य में यथायोग्य ज्ञानवृद्धि करने-कराने का अभीष्ट प्रयत्न होता रहेगा।

